

<?xml version="1.0" ?>

<?xml-stylesheet type="text/css" href="home.css"?>

<Doc id="hin-w-media-HN00003" lang="Hindi">

<Header type="text">

<encodingDesc>

<projectDesc> CIIL-KHS Hindi Corpora, Monolingual Written Text

</projectDesc>

<samplingDesc> Simple written text only has been transcribed. Diagrams, pictures, tables and verses have been omitted. Samples taken from page 17-19, 33-34, 47-49, 62-64, 77-79, 93-94, 107-109, 122-124, 137-139, 152-154

</samplingDesc>

</encodingDesc>

<sourceDesc>

<biblStruct>

<source>

<category> Aesthetics </category>

<subcategory> Literature-Novels </subcategory>

<text> Book </text>

<title> bAhara daravAjA </title>

<vol> </vol>

<issue> </issue>

</source>

<textDes>

<type> </type>

<headline></headline>

<author> madana dlkSita </author>

<words> 4650 </words>

</textDes>

```
<imprint>
  <pubPlace> India-New Delhi </pubPlace>
  <publisher> vANI prakAshana </publisher>
  <pubDate> 2001 </pubDate>
</imprint>
<idno type="CILL code"> 68070 </idno>
<index> HN00003 </index>
</biblStruct>
</sourceDesc>
<profileDesc>
  <creation>
    <date> 9-May-2005 </date>
    <inputter> Ayesha </inputter>
    <proof> Sumedha Shukla, Jitendra </proof>
  </creation>
  <langUsage> Hindi </langUsage>
  <wsdUsage>
    <writingSystem id="ISO/IEC 10646">Universal Multiple-Octet Coded Character
    Set (UCS). </writingSystem>
  </wsdUsage>
  <textClass>
    <channel mode="w"> print </channel>
    <domain type="public"> </domain>
  </textClass>
</profileDesc>
</Header>
<text><body>
```

<p>औरतें धौंकनी धौंकती थीं, मर्द लोहा पीटते थे, छोटे बच्चे गाड़ियों के नीचे डाले गए कामचलाऊ पालनों में झूलते थे, बड़े बच्चे अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपने माँ-बाप के कामों में हाथ बँटाते थे और बड़े-बूढ़े, जो अब कुछ करने के लायक नहीं रह गए

थे, गुट बाँधकर चिलम-तमाखू पीते थे, खाँसते थे और नए जमाने की अनीत पर दुखी होते थे।

दोपहर को मर्द लोग, रात का बचा-खुचा खाना खाकर अपना तैयार माल बेचने के लिए शहर के बाजार और आस-पास की देहाती पैठों की ओर निकल जाते थे। औरतें जंगल से लकड़ियाँ बीनकर लाती थीं, जानवरों के चारे-पानी का इंतजाम करती थीं और शाम को मर्दों के वापस आने से पहले रसोई तपाकर तैयार रखती थीं। इस बीच बड़ी-बूढ़ियाँ बैठकर चर्खा कातती थीं, अपनी-अपनी बहुओं की बुराइयाँ करती थीं और बच्चों को बहलाने के लिए उन्हें तरह-तरह की बातें सुनाती थीं अपने देस की बातें, अपने राज की बातें, अपनी राजपूती की बातें और अपने पुरखों के अहद की बातें। बाजार से जैसी भी आमदनी होती थी, उसी के हिसाब से, मर्द लोग खान-पान और अमल-पानी की व्यवस्था करते थे और जिस दिन खाली हाथ लौटते थे उस दिन अपनी सारी राजपूती अपनी औरतों पर उतार देते थे। लेकिन वे ही, रो-पीटकर, अपने जोड़े-जंगोड़े में से किसी तरह अगले दिन की दालरोटी का गुंताड़ा बैठाती थीं।

बड़े-बूढ़ों के सामने तो पुरखों के अहद की लकीर पीटने की परंपरा को ज्यों का त्यों बनाए रखने की चिंता के अलावा दूसरी और कोई समस्या नहीं थी। अर्धे लोगो को भी अपने कमाने-खाने और अमल-पानी की समस्या से ही फुर्सत नहीं थी लेकिन नई पीढ़ी के स्वाभिमानी नौजवानों के सामने तो ढेर सारी समस्याएँ मुँह बाये खड़ी थीं। कमाने-खाने की समस्या, इश्क-मोहब्बत की समस्या, अमल-पानी की समस्या, दुनिया की नजरों में अपनी गिरती हुई मान-मर्यादा की समस्या और फिर सारी समस्याओं की समस्या थी, कुछ भी नया न कर पाने की सामाजिक विवशता की समस्या।

केसरिया, गनेसा, जाहरिया, मोतिया और संकरिया, बड़े-बूढ़ों की नजरों में जमात के बिगड़े हुए लड़के थे और इनमें भी तोमरों का केसरिया और चौहानों का गनेसा, बुजुर्गों की जुबान में “सबसे ज्यादा मादरचोद थे जो हर वक्त आग में मूतने के लिए उधार खाए रहते थे।” बुजुर्गों की इस बात में इतनी सचाई तो थी ही कि इन पाँचों का एक गुट था जो खानाबदोशी की फटीचर जिंदगी से असंतुष्ट था और कुछ नया काम करना चाहता था। अहद की बेड़ियों की जकड़न जब जरा ज्यादा कसकने लगती थी तो केसरिया-गनेसा कुछ बेजा ही ऊँचा-नीचा बोल जाते थे। वैसे लड़के मेहनती और समझदार थे। कमाई भी औरों से अच्छी कर लेते थे और अपने घर वालों को खुश भी रखते थे। इन लोगों के बाप

चैन से बैठे, अमल के प्याले घोलकर, उसकी पिनक में मस्ती लेते हुए अपने बेटों को असीसें दिया करते थे।

केसरिया कहता था—“अब छुरों-तलवारों का जमाना खत्म हो चुका है। चैन से ढंग की रोटी खाना चाहते हो तो कोई नया काम शुरू करो—बन्दूकें-तमंचे बनाना शुरू करो।

पहनने-ओढ़ने के कपड़े पहले की अपेक्षा कहीं अधिक साफ रहने लगे थे और उनकी औरतों के तन पर थोड़े-बहुत चाँदी के गहने भी दिखाई देने लगे थे।

परंपरावादी जमातों के लोग, विद्रोही जमातों के इस गुणात्मक बदलाब को अनदेखा करके, केवल अपने संख्या बल के आधार पर विद्रोहियों को किसी गिनती में ही नहीं रख रहे थे। इसीलिए, कुछ ठीठ किस्म के चौहानों ने केसरिया-गनेसा को ठोंक-पीटकर ठीक करने का बीड़ा उठाया तो उन्हें अपनी जमातों के दूसरे लोगों की कम से कम मौन सहमति तो मिल ही गई। उन्होंने केसरिया-गनेसा की जमात को संदेश भिजवा दिया कि “केसरिया-गनेसा हमारे अपराधी हैं। इन दोनों को दंड देने के लिए हमारे हवाले कर दो वरना इसका नतीजा बहुत बुरा होगा।” इस पर सारी विद्रोही जमातों ने सलाह करके जवाब भिजवा दिया कि—“गुड़गाँव की पंचायत से आप लोगों ने हमें अपनी पंचायत में शामिल ही कहाँ रखा है और तभी से हमारे और आपके रास्ते अलग-अलग हो गए हैं। न हम आपके मामलों में दखल देते हैं और न आप हमारे मामलों में दखल दीजिए। वैसे, जहाँ तक हो सके वहाँ तक हम अपनी तरफ से भाईबंदी को और ज्यादा बिगाड़ना नहीं चाहते।”

विद्रोही जमातें यह तो समझ ही रही थीं कि परंपरावादी लोग केसरिया-गनेसा की जमात को कुछ न कुछ नुकसान पहुँचाने की कोशिश जरूर करेंगे और इसीलिए उन्होंने दूसरी जमातों के कुछ और लोगों को भी, फिरंगी तमंचों के साथ, इस जमात की सुरक्षा के लिए तैनात कर दिया। उन्होंने अपने साथ काम करने वाले स्थानीय मुसलमान लोहारों से इस धमकी की चर्चा की तो उन लोगों ने भी, जरूरत पड़ने पर, उनकी सहायता करने का वायदा किया।

अपने संख्या बल के जोश में परंपरावादी सिरफिरे चौहानों ने, केसरिया-गनेसा की जमात को ठीक करने के लिए, गोल बाँध कर हमला बोल ही दिया तो बस्ती के हिन्दू लोग दूर खड़े होकर भूमलियों के आपसी झगड़े का तमाशा देखते रहे; वैसे हमदर्दी उनकी मंदिर-लुटेरों के खिलाफ ही थी। चौहानों के पुराने ढंग की तलवारें, बछियाँ, विद्रोहियों के

फिरंगी तमंचों के सामने टिक नहीं सकीं और वे लोग मैदान छोड़कर भागने लगे। इतनी देर में विद्रोहियों के साथ काम करने वाले स्थानीय मुसलमान लोहार भी उनकी मदद के लिए आ गए।

इस घटनाक्रम के बाद धरातल का यथार्थ कुछ इस तरह से उभरकर सामने आया कि हिन्दुओं के समाज से, गाड़िया लोहारों की इन विद्रोही जमातों के संबंध, बस नाम की औपचारिकता तक ही सीमित रह गए। मुसलमानों के समाज से उनकी निकटता घनी हो गई और अब, हिन्दुओं के समाज से यह औपचारिक संबंध भी समाप्त करके, पूरी तरह से मुसलमानों के समाज में ही समाहित हो जाने के स्वर भी मुखर होने लगे थे।

यों तो गाड़िया लोहारों की इन विद्रोही जमातों के लोग, आमतौर पर, इस हद तक जाने के लिए तैयार नहीं थे लेकिन हिसार के कुछ मौलवियों को इस स्थिति का पता चला तो उन लोगों ने इस चिनगारी को हवा देना शुरू कर दिया।

पाँच वर्षों की अवधि में उन्होंने अपनी पाठशाला के स्तर का सारा ज्ञान अपने शिष्य को दे दिया तो पंडित सुधाकरदत्त द्विवेदी ने सोमेश्वर से कहा—“बेटा सोमेश्वर, अपनी पाठशाला की क्षमता के अनुसार हमारे पास जितना भी ज्ञान था वह तो हम तुम्हें दे चुके किंतु इतना सा ज्ञान, तुम्हारी प्रतिभा के अनुरूप नहीं है। तुम्हारे जैसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी को तो काशी की ज्ञान गंगा में गहरे पैठ कर गोता लगाना चाहिए।”

“किंतु हम तो काशी में किसी को जानते भी नहीं, गुरुजी। और फिर, वहाँ हमें कोई, क्यों तो अपने विद्यार्थी के रूप में स्वीकार करेगा और वहाँ, हमारे रहने-सहने की व्यवस्था कैसे, क्या होगी?”

“तुम्हारे जैसे प्रतिभाशाली विद्यार्थी का, बाँहें पसारकर, स्वागत करने वाले गुरुओं का काशी में कोई अभाव नहीं है तथा अपने रहने-सहने के विषय में भी तुम्हें कोई विशेष चिंता करने की आवश्यकता नहीं होगी। वैसे, हम तो ऐसे कई महानुभावों को भी जानते हैं कि जिन्होंने गुरुगृहों में मसाला पीसने तथा ब्रह्मभोजों में लड्डू-कचौड़ी काटने में ही दस-दस वर्ष बिता दिए हैं और अब बड़ा चोटा बड़ा पगगड़-बड़ा पोथा बड़ा धग्गड़ के नियम के अनुसार, यहाँ आकर, शास्त्री बने बैठे हैं। काशी के आचार्य विधुशेखर से हमारा खूब अच्छा परिचय है। हम उनके नाम की चिट्ठी लिखकर दे देंगे और हमें पूरा विश्वास है कि वे तुम्हारे लिए सारी व्यवस्था कर देंगे।”

“इसके लिए बप्पा को मनाने की भी तो एक समस्या है?”

<p> “इसकी तुम चिन्ता मत करो, जुमलेदार साहब को हम सब समझा लेंगे। वे चाहते भी हैं कि पंडित समाज में तुम उनके कुल का नाम उजागर करो। उन्होंने दुनिया देखी है और हमें, उन्हें यह समझाने में, कोई कठिनाई नहीं होगी कि पंडित समाज में नाम उजागर करने के लिए पांडित्य पर काशी की मोहर लगना भी नितांत आवश्यक है।”</p>

<p>आचार्य विधुशेखर, काशी के प्रतिष्ठित विद्वान तथा अत्यन्त लोकप्रिय आचार्य थे। उनके विद्यार्थियों की संख्या भी अच्छी-खासी थी, जिनमें से अधिकांश तो काशी के धनी मानी परिवारों के बेटे थे, जो अपने घरों पर ही रहते थे और समय-समय पर अपनी संपन्नता के अनुरूप आचार्य जी को दान-दक्षिणा भी भेंट करते रहते थे। इनके अतिरिक्त दूर-दूर के नगरों तथा ग्राम्यांचलों से आए कुछ ऐसे विद्यार्थी भी थे जो आचार्य जी की हवेली में ही उनके साथ अन्तेवासियों के रूप में, रहते-सहते थे। इन अन्तेवासियों में भी कुछ विद्यार्थी तो बिल्कुल ही निर्धन परिवारों से आते थे जो आचार्य कुल में भृत्य शिष्यों के रूप में रहते थे और उनकी शिक्षा के अतिरिक्त उनके भरण-पोषण का भी सारा दायित्व आचार्य जी का ही होता था। इनके अतिरिक्त, संपन्न परिवारों से आने वाले, ऐसे अन्तेवासी भी होते थे कि जिनकी शिक्षा और आवास का दायित्व ही आचार्य जी पर होता था और अपने भोजन वस्त्र की व्यवस्था वे स्वयं करते थे।</p>

<p>तुम्हारे भविष्य के विषय में एक सुझाव तो यह आ रहा है कि तुम यहाँ कमलपुर में ही अपनी पाठशाला खोल कर स्वतंत्र रूप से अध्यापन कार्य शुरू कर दो किंतु हमें यह सुझाव स्वीकार नहीं है। ऐसा करने पर तुम पंडित सुधाकर दत्त द्विवेदी के प्रतिस्पर्द्धी बन जाओगे। हो सकता है कि तुम, अपने युवा ओज के बल पर द्विवेदी जी को पछाड़ भी दो किंतु अपने बेटे द्वारा ऐसी गुरुघाती कृतघ्नता किए जाने की कल्पना ही हमारे मन को ग्लानि से भर देती है।”</p>

<p>“मैं भी आपकी इसी राय से पूरी तरह सहमत हूँ। मेरे पास आज जो कुछ भी विद्या है उसके सारे श्रेय के अधिकारी तो द्विवेदी जी ही हैं। यदि वे स्वयं मुझे अपनी पाठशाला में अपने सहायक के रूप में स्वीकार करते तो मैं इसे अपना अहोभाग्य समझता किंतु अब तो वे इस कार्य के लिए अपने पुत्र को ही प्रशिक्षित कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में मेरे द्वारा कमलपुर में अपनी अलग से पाठशाला खोलने का सुझाव स्वीकार किए जाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता।”</p>

<p>“फर्रुखाबाद बड़ा नगर है, उसके पंडित समाज की आस-पास के क्षेत्रों में एक प्रतिष्ठा भी है और वहाँ धार्मिक मनोवृत्ति के नागरिकों का भी कोई आभाव नहीं है। दूसरा विकल्प यह भी हो सकता है कि तुम भी फर्रुखाबाद में जमकर अपने भाग्य और पुरुषार्थ की परीक्षा लो। तुम्हारे फर्रुखाबाद में बसने की प्रारंभिक व्यवस्था करने के लिए, भगवान की कृपा से, हम भी अभी समर्थ हैं ही।”</p>

<p> “यह दूसरा विकल्प ही ठीक रहेगा, बप्पा।”</p>

<p> “ठीक तो रहेगा किंतु इस विकल्प की बेल को मंगरी चढ़ाने से पहले हम, तुम्हारा विवाह करके, अपने पितृ ऋण से भी पूरी तरह उऋण हो जाना चाहते हैं।”</p>

<p>बेटे का विवाह करने के बाद जुमलेदार करनसिंह ने उसके रहने-बसने की व्यवस्था भी फर्रुखाबाद में कर दी। थोड़े ही दिनों में नगर के विद्या व्यसनी पंडितों तथा पारखी गुण ग्राहकों में तो सोमेश्वर तिवारी की अच्छी साख बन गई किंतु व्यावसायिक पंडिताई के लटकों-झटकों में बिल्कुल कोरे होने के कारण सामान्य जनों में उनकी कोई गहरी पैठ नहीं बन सकी। यही नहीं, पोंगा पंडितों का समुदाय, उन्हें उखाड़ने के लिए, तरह-तरह के षड्यंत्र रचने से भी नहीं चूकता था। उनके यजमानों की परिधि तो छोटी-सी ही थी किंतु उनसे उन्हें जो हार्दिक श्रद्धा और सम्मान मिलता था वह दूसरों के लिए दुर्लभ था। आर्थिक दृष्टि से उन्हें दाल-रोटी का अभाव तो कभी नहीं रहा किंतु वैसे उन्हें ऐसा कुछ अधिक सम्पन्न भी नहीं कहा जा सकता था।</p>

<p>जुमलेदार करनसिंह ने पकी आयु में जब अपना शरीर विसर्जन किया तो तब तक सोमेश्वर तिवारी भी अपने पैरों पर लस्टम-पस्टम खड़े हो ही चुके थे और उनका बेटा रामेश्वर दत्त आठ वर्ष का हो गया था।</p>

<p>फर्रुखाबाद के अपने एक संपन्न व्यवसायी यजमान के परिवार में, किसी धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर, वैद्यराज मनसुख लाल पारिख की चर्चा चली तो सोमेश्वर तिवारी को अपने अभिन्न मित्र की यशगाथा सुनकर बहुत अच्छा लगा और उनके यजमान को भी यह जानकर बड़ा सुखद आश्चर्य हुआ कि वैद्यराज उनके पंडित जी के सहपाठी और अभिन्न मित्र रह चुके थे।</p>

<p>इसके अतिरिक्त पंडित मनसुख लाल पारिख ने उनको एक ऐसी सरल चिकित्सा पद्धति में भी प्रशिक्षित कर दिया था कि जिसमें, अनुपान भेद तथा पथ्य परहेज के हेर-

फेर के साथ, केवल खूब कला के चूर्ण से ही, सारे रोगों का उपचार किया जा सकता था।

व्यावसायिक पुरोहित कार्य के साथ रामेश्वरदत्त, अपने ताऊ जी की परंपरा को बनाए रखने के लिए, नियमित रूप से दिन में थोड़ी देर उनके चिकित्सालय में बैठकर रोगियों का उपचार अवश्य किया करते थे। लोग कहते थे कि उन्हें खूब कला बूटी सिद्ध थी। बूटी सिद्ध थी या नहीं किंतु विधाता ने उनके हाथ में यश दिया था और उनके अधिकांश रोगी, खूब कला के उपचार से ही, स्वस्थ हो जाते थे। चिकित्सा को उन्होंने अपनी आजीविका का साधन कभी नहीं बनाया और खूब कला का चूर्ण भी वे अपने पास से निःशुल्क ही दिया करते थे। यही कारण था कि वे बाहर दरवाजे और शहर के गरीब गुर्बा लोगों की बस्तियों में भी खूब लोकप्रिय हो गए थे और लोग उन्हें स्नेह तथा सम्मान के साथ 'काका जी' कहने लगे थे।

रामेश्वरदत्त के तीन बेटों में सबसे बड़े थे, कामेश्वरदत्त, सीधे-सादे भोलानाथ। पढ़ाई-लिखाई के मामले में बहुत कोशिश करने पर भी, वे बारहखड़ी से आगे नहीं बढ़ सके तो पंडित पिता ने ठेठ कनौजिया शैली में, "पढ़वइया की अइसी-तइसी ख्वादउ घास चरावहु भइंसी" कहकर उनकी शिक्षा के दीक्षांत समारोह का समापन कर दिया। अगले दिन से ही कामेश्वरदत्त, पिता वचन का अक्षरशः पालन करते हुए, खेती-बाड़ी और भैंस भवानी की सेवा में जुट गए। 'खेती खसम सेती', कामेश्वर ने खेती की बागडोर खुद संभाल ली तो धरती सोना उगलने लगी और वे सही अर्थों में परिवार के अन्नदाता बन गए। विवाह तो उनका बचपन में ही हो गया था किंतु पत्नी, गौने से पहले ही स्वर्गवासिनी हो गई। कुछ लोग कहते थे कि इसके बाद उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया तो कुछ लोग यह भी कहते थे कि पंडितों के परिवार में एक कुबड़्ठे को अपनी बेटी ब्याहकर, उसे सारे परिवार की नौकरानी बनाने के लिए कोई तैयार ही नहीं हुआ। उनके हमजोली कहते थे— "कामेश्वर, तुम्हारी बुद्धि भी तुम्हारी काया के समान ही मोटी है।" कामेश्वर पलटकर उत्तर देते— "ससुरो तुम खुद जैसे धान-पान हो तुम्हारी बुद्धि भी वैसी ही धान-पान है।" अपनी अविद्या को महिमामंडित करते हुए वे, अपना ही रचा हुआ, एक इसलोक भी सुनाते थे—

मँझले बेटे विश्वेश्वरदत्त को पंडिताई के पैतृक व्यवसाय में कोई रुचि नहीं थी किंतु बनिज व्यापार में उनकी बुद्धि खूब चलती थी। संस्कृत की आरंभिक शिक्षा प्राप्त करने के

बाद वे, गुरु की पाठशाला के हिसाब-किताब और बहीखाते की विद्या सीखकर, मंडी में मुनीम बनने के लिए कमर कसकर तैयार हो गए।

मैया ने हँसकर जवाब दिया—“आल रैट लाट सा’ब। तुमने हमारा इतना खिजमत किया है तो तुम्हारा काम जरूर होयगा।” मैया ने ताली बजाई तो अगिया बैताल हाजरी में हाजर। मैया ने हुकम दिया।—“अगिया बैताल, हम तुम्हें, इस लाट सा’ब के हुकम में दे रहे हैं। तुम्हारे बैठने के लिए यह एक लोहे का रथ बनाकर देगा और मुलक भर में लोहे की लाइनें बिछवा देगा जिन पर तुम्हारा रथ दौड़ा करेगा। यह तुमको जहाँ जाने को कहेगा तुम अपने रथ पर बैठकर वहीं चले जाओगे।” अगिया बैताल ने सिर झुकाकर जवाब दिया—“जो हुकम मैया।” मैया ने बड़े लाट के सिर पर हाथ रखकर कहा—“जा, खुश रह बच्चा। इसके रथ के पीछे चाहे जितनी भी गाड़ियाँ बाँध देना, सात विलायतों तक खींचकर ले जाएगा, इसका नाम है अगिया बैताल।”

लगभग तीन बरसों के अर्से में गंगा पर लोहे का पुल बन गया और मुरादाबाद से चन्दौसी होकर राजघाट नरौरा तक की रेलवे लाइन बिछ गई। चन्दौसी के लोकोशेड में इंजिन के उर्जे-पुर्जे आ गए तो फिटरों ने इंजन बाँधकर खड़ा कर दिया, सवारी गाड़ियों के चार डिब्बे भी तैयार कर दिए और सारा तामझाम अपनी-अपनी जगह पर कील काँटे से दुरुस्त हो गया। सवारी गाड़ियों का स्टेशन, माल गाड़ियों का माल गोदाम, लोकोशेड, पी.डब्ल्यू.डी. और आई.ओ.डब्ल्यू की वर्कशापें तथा गोरे स्टेशन मास्टर, पलेटियर, लोको फोरमैन, गार्डो-ड्राइवरों के बंगले और देसी कर्मचारियों के क्वार्टर भी बनकर तैयार हो गए तो अमला भी आकर आबाद हो गया, जंगल में मंगल होने लगा।

सन् 1872 ई. के अक्टूबर महीने की अट्ठाईसवी तारीख, भाप गाड़ी के शुभारंभ के लिये नियत थी। शहर के रहने वालों की उत्सुकता का कोई ओर-छोर नहीं था। सुबह से ही अवध रुहेलखंड रेलवे कंपनी के डायरेक्टर लोग, जनरल मैनेजर साहब और जिले के कलक्टर, जंट, पुलिस कप्तान और तहसीलदार से लेकर हल्के के पटवारी तक का सारा सरकारी अमला स्टेशन पर मौजूद था। रेलवे के सारे स्थानीय कर्मचारी भी अपनी वर्दियों में लकदक लैस अपनी-अपनी इयूटियाँ सँभाल रहे थे और शहर तथा आसपास के देहातों के बेशुमार लोगों का हुजूम स्टेशन के इर्द-गिर्द मँडरा रहा था।

नियत समय पर, गेंदे और गुलाब के फूलों से सजा हुआ रेल का इंजन, चार सवारी गाड़ी के डिब्बों के साथ, धुआँ उड़ाता हुआ लोकोशेड से चलकर प्लेटफार्म पर आया। सारा जन समुदाय, साँस रोके हुए, इस अजूबे को देख रहा था। तभी, इंजन की भट्टी से

लपलपाती हुई विकराल लपटों को देखकर कुन्नी गुरु ने हाथ जोड़ लिए और भाव विभोर होकर आवाज निकाली—“धन्य हो मैया” और फिर सीना फुलाकर गरदन को इधर-उधर घुमाते हुए, अपनी आवाज को तार सप्तक कर खींचकर कहने लगे—“कोई माँ का खसम, कुन्नी गुरु की बात मानकर ही नहीं दे रहा था।</p>

<p>आर्थर और सिल्विया, बड़े मौलवी साहब को मामू जान तो कहते ही थे और जब उन्होंने उनकी मौम को अपनी चचाजाद बहिन बतलाया तो उन्हें उनकी बात पर अविश्वास करने का भी कोई कारण दिखाई नहीं दिया। मौलवी परिवार को सचेतन रूप से अपना निकटतम रक्त संबंधी मान कर, पीम परिवार, अपने आपको उन लोगों से और भी अधिक निकट समझने लगा। अमजद मियाँ ने इस बीच अपनी क्वीन्स इंग्लिश को और भी अधिक समृद्ध बना लिया था तथा उनके इस भाषा ज्ञान ने भी दोनों परिवारों के संबंधों को कुछ ज्यादा ही प्रगाढ़ बना दिया।</p>

<p>अवध रूहेलखंड रेलवे कंपनी अपेक्षाकृत एक छोटी रेलवे कंपनी थी और उसकी रेलवे लाइन ओ.आर.आर. के नाम से जानी जाती थी। इसकी मैन लाइन बनारस-लखनऊ शाहजहाँपुर-बरेली-चन्दौसी-अलीगढ़ तक ही सीमित थी और इस रेलवे लाइन का एक बड़ा जंक्शन और व्यापारिक महत्त्व का केंद्र चन्दौसी था।</p>

<p>दूसरी रेलवे लाइनों की भाँति ओ.आर.आर. की भी चालक शक्ति तो उसका लोको विभाग ही था। रेलों की संचालन प्रक्रिया का मूल आधार यही विभाग था और इसमें काम करने वाले रेलवे कर्मचारियों की संख्या भी सबसे अधिक थी। इसीलिए, इस विभाग के सबसे बड़े अधिकारी, लोको-फोरमैन आर्थर पीम, एक बड़ी हस्ती माने जाते थे। उनका बंगला भी सबसे बड़ा और सबसे ज्यादा शानदार था और उसके टेनिस कोर्ट के इर्द-गिर्द, गोरे-अधगोरे रेलवे अधिकारियों का एक क्लब-सा बन गया था। अमजद मियाँ शहर में, क्वीन्स इंग्लिश बोलने और समझने वाले, एक मात्र नेटिव और बंगले के अधिकारी के ममेरे भाई थे इसलिए दूसरे गोरे अधिकारी न चाहते हुए भी, अपने अनौपचारिक गोरे क्लब में, उनकी उपस्थिति सहन करने के लिए विवश थे, वैसे अमजद मियाँ भी रूप-रंग में किसी गोरे से उन्नीस नहीं थे।</p>

<p>अमजद मियाँ, लखनऊ की नर्म-नाजुक संस्कृति में रचे-बसे व्यक्ति थे। यों तो उनका परिवार कई पीढ़ियों से बनिज व्यापार की दुनिया से जुड़ा हुआ था और लखनऊ के व्यापार जगत् में उनकी कोठी की बहुत अच्छी साख थी लेकिन अमजद मियाँ का मन व्यापार के गोरख धंधे में कभी अच्छी तरह से उलझ नहीं सका। फारसी और उर्दू के

अलावा अंग्रेजी साहित्य में भी उनकी गहरी रुचि थी और वे दिन-ब-दिन उनकी गहराइयों में उतरते चले जा रहे थे। उनके वालिद बुजुर्गवार यानी बड़े मौलवी साहब को शुरू में तो बेटे की साहित्यिक सुरुचि पर गर्व भी हुआ और अंग्रेजी पढ़ने के लिए तो उन्होंने खुद ही, अमजद मियाँ को पीम साहब के बेटे-बेटी से मेल-जोल बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित करके उनकी कुलीन अंग्रेजी की शिक्षा की व्यवस्था की थी। लेकिन, जब उन्होंने देखा कि साहबजादे साहित्य-संस्कृति के सागर में गहरी डुबकी लगाकर व्यापार की दुनिया से बिल्कुल ही किनारा किए जा रहे हैं तो उन्हें लगने लगा कि बेटे की तरबियत में उनसे कहीं न कहीं कोई चूक जरूर हो गई है।

और फिर, एक दिन वे नियाज अली को बाकायदा उस्ताद के ठिये पर बैठा कर खुद घनवाही करने लगे तो नियाज अली उदास होकर कहने लगे—“भैया, हमें तो खुद ठिये पर बैठकर आपसे घनवाही कराने में बड़ी शर्म लगती है।” अल्लादीन ने बड़े लाड़ के साथ मुस्कराकर जवाब दिया—“और जब लोग यह कहना शुरू कर देते कि नमक-हराम अल्लादीन, उस्ताद का ठिया हड़पकर, उस्तादजादों से घनवाही करवा रहा है तो हमारी तो बड़ी नामवरी होती?”

“लेकिन हम तो आपको अब्बा का जेठा बेटा ही समझते हैं।”

“तभी तो हम भी इस ठिये से, बिना किसी रस्सी पगहिया के, बँधे पड़े हैं।”

असगर अली अब जवान हो चले थे और अल्लादीन भाई के साथ भट्टी पर घनवाही करने लगे थे लेकिन बड़ी भट्टी पर पारंपरिक मोटे अदद बनाने की अपेक्षा उनकी रुचि कल-पुर्जों के बारीक कामों में अधिक थी। महाविद्रोह के बाद तमंचों-पिस्तौलों का काम तो पूरी तरह से बंद ही हो गया था लेकिन नई मशीनों और उनके कल-पुर्जों के कई नए काम पैदा भी हो गए थे। रेलवे की लोको और आई.ओ.डब्ल्यू की वर्कशापों में जाकर वे नई मशीनों को बड़ी बारीकी के साथ देखते समझते थे, वहाँ के मिस्त्रियों से उनकी बारीकियों पर चर्चा किया करते थे और दोपहर को अपनी छोटी भट्टी पर दोनों छोटे भाइयों के साथ कुछ न कुछ खटर-पटर करते ही रहते थे।

अनवर अली और नजर अली तो अभी अल्हड़ बछेड़े थे, किसी काम की कोई खास जिम्मेदारी उनकी नहीं थी। कभी मन करता तो भट्टी का पंखा चला लेते या असगर भैया के साथ उनकी छोटी भट्टी की खटर-पटर में कुछ हाथ बँटा लेते थे। वे इन दिनों होली के रंग में पूरी तरह से सराबोर हो रहे थे। सारे दिन मोहल्ले के लड़कों के साथ होली के पंचकंडे जमा करते हुए घूमते थे और होली के रंगों में चिते-पुते दोपहर को, वक्त-बेवक्त,

रोटी खाने के लिए घर पहुँचते थे। नियाज अली लाड़ से हँसकर कहते—“अरे बनमानुसो, रोटी खाने के लिए तो वक्त से घर आ जाया करो।” वे इठलाकर जवाब देते—“भाई जान, रोटी तो रोज ही वक्त से खाते हैं लेकिन होली तो साल में एक ही बार आती है।”

खास होली के दिन अनवर अली नजर अली, होली के चौधरियों के साथ लगे हुए लड़कों के हुजूम में शामिल होकर, सारी दोपहर बाजार की दुकानों से होली का चंदा जमा कराते रहे। बाजार के दुकानदारों ने अपनी-अपनी हैसियत के हिसाब से, पैसा-दो पैसा, इकन्नी-दुअन्नी चन्दा दिया। कुछ साहू साहिबान से एक-एक रुपया भी मिल गया तो पच्चीस रुपए की रकम होली के चंदे में जमा हो गई।

अल्लाहबख्श मनिहार, मुहल्ले के दामाद थे। उनकी टाल पर जलावन की लकड़ियाँ एक रुपए की ढाई मन मिलती थीं और जड़ों की गाँठें, जो आम तौर पर मुर्दों को जलाने के काम में आती थीं, एक रुपए में पौने तीन मन भी मिल जाती थीं।

अमजद भैया और सिल्विया बाजी, दोनों ही, आला तालीमयाफता दानिशवर और गहरी सूझ-बूझ के लोग हैं। उन्होंने खुद भी तो अपने बारे में कुछ सोचा ही होगा? हमें तो ऐसा लगता है कि अहले मामला से मालूमात हासिल किए बिना ही आप और अम्मीजान एक-दूसरे पर तलवारें तानकर खड़ी हो गई हैं।”

आर्थर को रूही की बात का सहारा मिला तो वे हँसकर कहने लगे—“रूही बहिन, हमारी बेगम साहिबा सोचने का काम दिमाग की बजाय दिल से लिया करतीं हैं। हमने तो खैर, अपना खते गुलामी लिखकर इनके हवाले कर दिया है। लेकिन परेशानी उस वक्त सामने आ जाती कि जब यह दूसरे लोगों के सामने भी गुलामों के आका की हैसियत से पेश आने लगती हैं और उस वक्त यह इस बात को बिल्कुल भूल जाती हैं कि अब तहजीबयाफता दुनिया, गुलामी की लानत से निजात हासिल कर चुकी है।” व्यूला को आर्थर की यह दखलंदाजी कुछ अच्छी नहीं लगी तो तिनककर कहने लगी—“जी हाँ, आप तो बड़े हमारे गुलाम हैं। सारी दुनिया में ढिंढोरा पीटते फिरते हैं कि हम गुलाम हैं लेकिन घर में हर काम होता आपकी ही मर्जी से है, हमें पूछता ही कौन है? इसके ऊपर से तुरा यह कि हम सारा काम गुड़ गोबर कर देते हैं। दोनों भाई-बहिन यही समझते हैं कि दुनिया भर की अक्ल का ठेका उन्हीं के पास है, हम तो बस, जाहिल गँवार हैं। लीजिए, हम कुछ नहीं कहते, अब आप ही सुलझाइए इस मुअम्मे को।” व्यूला की बात का उनको सीधा उत्तर दिए बिना आर्थर कहने लगे—“रूही बहिन, मुअम्मा तो कुछ भी नहीं है। इस मसले पर अमजद और सिल्विया से हमारी कोई खुल कर गुफ्तगू तो नहीं हुई है लेकिन

जहाँ तक हम उन दोनों को समझ सके हैं तो सूरते हाल यह है कि अपने-अपने मजहबी अकायद पर कायम रहते हुए भी वे दोनों एक-दूसरे से बेइन्तिहा मुहब्बत करने लगे हैं। खूबसूरती यह है कि दोनों ही अपने अकायद को छोड़ना या दूसरे से उसके अकायद को छुड़वाना सख्त नापसंद करते हैं।” इस पर ब्यूला जरा और भी गुफरकर कहने लगी, “यह मुअम्मा नहीं तो और क्या है ? अब आप ही निकालिए इसका हल।” </p>

<p> “बेगम साहिबा, आप लोगों ने चाय के प्याले में जो तूफान बरपा कर रखा है उसे जरा साकित हो लेने दीजिए फिर सुकून के साथ इस मुअम्मे का भी कोई हल निकाल ही लिया जाएगा। यकीन मानिए, हिन्दोस्तानी कहानियों के अंजाम की तरह, वह दिन जरूर आएगा कि वे राजा हुए वे रानी, जैसी उनकी हुई वैसी हर किसी की हो।” </p>

<p>“आज रूही हमारी कोठी पर आई थीं।”</p>

<p> “मालूम है।”</p>

<p> “कहती थीं कि अम्मीजान चाहती हैं कि हम इस्लाम कुबूल करके पर्दे में आ जाएँ और आप हमें अपने निकाह में ले लें।”</p>

<p>चमरिहानों पर पड़ी सम्पन्नता की इक्की-दुक्की किरनों के प्रकाश से ही समूचे बाहर दरवाजे में एक उजाला-सा फैल गया। भीतर दरवाजे के चार-छः परचूनियों ने बाहर दरवाजे में अपनी दुकानें खोल लीं, दो-चार हलवाई पनवाड़ी आ गए और पहले से बसे हुए दो-तीन भुर्जियों ने अपने भाइयों के सहारे दुकान लगाकर चने, मुरमुरे, सत्तू, मक्का, बाजरे की खीलें और गुड़धानियाँ भी बेचना शुरू कर दी तो बाहर दरवाजे का अपना छोटा-मोटा बाजार भी बनकर तैयार हो गया। यही नहीं इसी बीच, सरकारी लाइसेंस पर दीनानाथ पंडित ने अपनी शराब की भट्टी भी बाहर दरवाजे में ही कायम कर ली तो सारे शहर के शराबी भी इसी बाजार की रौनक बढ़ाने लगे और उनके सहारे दो-एक चाट-पकौड़ी वालों ने भी अपने खोमचे बाहर दरवाजे में लगाने शुरू कर दिए।</p>

<p>बाहर दरवाजे के दोनों चमरिहानों के रूप-रंग में भी अब एक बड़ा बदलाव आ गया था। टूटी मढ़ियों की जगह साबित छप्पर और कहीं-कहीं कच्चे घर भी दिखाई देने लगे

थे। खानपान की व्यवस्था में थोड़ा सुधार हुआ तो सूखी हड्डियों पर थोड़ी बोरियाँ भी चढ़ने लगीं और नंगी क्या ओढ़े क्या निचोड़े की स्थिति की स्थिति समाप्त हुई तो तनों पर, ढंग के न सही, कामचलाऊ तन ढँकने लायक कपड़े तो हो ही गए। कुछ लोगों ने मोहल्ले के कुएँ के पास एक छोटी-सी चबूतरी बनाकर उस पर गोल मटोल पत्थर के महादेव स्थापित कर लिए थे और वे नित्य नियम से स्नान करके 'जय शंकर भोले नाथ' की सदा के साथ अपने महादेव जी पर जल चढ़ाते थे। कुछ लोग रात को भगत के दरवाजे पर संगत जोड़ते थे और देर रात गए तक खंजड़ी बजाकर रैदास और कबीर के भजन गाते रहते थे लेकिन ज्यादातर लोग दिन के समय अपने काम को और रात के समय अपनी पत्नियों को लेकर मगन रहते थे।

शराब, जुआ और कर्जदारी तो सम्पन्नता के आभूषण ही समझे जाते रहे हैं, उस पर अधजल गगरी तो और भी जल्दी छलकने लगती है। इसी परंपरा को निबाहते हुए कुछ लोग शराब की भट्टी की रौनक बढ़ाने के बाद अपने मोहल्ले में गर्दा काटने लगे थे, कुछ लोगों ने जुआ खेलने के नियमित ठिकाने बना लिए थे और कुछ घरों दरवाजों पर कबुलिया पठान, गाहे-ब-गाहे डंडा फटकारने लगे थे।

इसी बीच, नाले पार वाले चमरिहाने में, एक चमार मूल का शिक्षित ईसाई परिवार भी आकर रहने लगा था। पति अँग्रेजी ढंग के बूट और मुंडे जूते बनाता था, पत्नी म्युनिसिपैल्टी में मिडवाइफ थी और बच्चे ईसागढ़ के मिशन में रहकर पढ़ रहे थे। सारा परिवार रोज नहाकर साफ-सुथरे कपड़े पहनता था और घर से बाहर, गोरे साहबों की नकल पर, गलत हिंदी बोलता था। उनके रहन-सहन की छिटक चाँदनी की मादकता में, सुध-बुध खोकर, दो-चार लोग बप्तिस्मा लेकर ईसाई हो गए थे और चार-छः लोगों ने उनकी प्रेरणा पर अपने लड़कों को ईसागढ़ मिशन में पढ़ने के लिए भेज दिया था।